शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६३ ☆ वर्ष अठारहवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : १०

तीन लोक में प्रशंसा के पात्र

जो मुमुक्षुजन शुद्ध आत्मा के चिंतवन में तत्पर रहते हैं; वे तीन लोक में प्रशंसापात्र हैं, आत्म चिंतवन में तल्लीन मनुष्य कदाचित् काला हो, कर्णहीन हो, कुरूप हो अथवा नकटा, वक्र-ग्रीव, कर्कश आवाजवाला, ठिंगना, पंगु, ठूंठा, गूँगा, नेत्रहीन, लंगड़ा, निर्धन, अनपढ़, बहिरा व कोढ़ आदि रोगयुक्त हो, फिर भी निर्मल ज्ञानवाले ज्ञानीजन उसके शरीर की ओर न देखकर उसके अद्‌भुत, अनुपम, आत्मचिंतनरूप पुरुषार्थ की ओर दृष्टि देते हुए उसी को प्रशंसा पात्र समझते हैं। दूसरा मनुष्य सर्वांग सुंदर, रूपवान, मधुरवाणी वाला, अनेक शास्त्रों का अभ्यासी, धनवान व निरोगी हो, तथापि यदि वह चिद्रूपचिंतन से रहित है, तो उसे कोई ज्ञानी कभी प्रशंसापात्र नहीं समझते।

(तत्त्वज्ञान तरंगिणी)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२१३]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छहढाला

(सुबोधिनी विस्तृत टीका) स्व० पंडित दौलतरामजी विरचित।

श्री सेठी ग्रंथमाला द्वारा यह एक बार छपते ही २२०० पुस्तक तुरंत बिक जाने से यह दूसरी बार २२०० पुस्तकें छपवाई हैं। गागर में सागरवत् उसमें जैन तत्त्वज्ञान भरा है, विशेष ज्ञानार्जन के लिये बहुत आवश्यक ग्रंथ है, उसमें रोचक ढंग से आत्महित का स्वरूप बताया है। बालक को भी समझने में सुगम हो ऐसी शैली है; खास मनन करने योग्य है, और जिज्ञासुओं में बाँटने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन २५ प्रतिशत। पृष्ठ १६२, मूल्य ०-८५, पोस्टेज अलग।

★

ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव

दूसरी बार छप रहा है। माघ मास में तैयार हो जायेगा — सर्वोत्तम छपाई कागज आदि सहित।

★

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका

(चौथी आवृत्ति)

पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६३ ☆ वर्ष अठारहवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : १०

शुद्धनय का विषय एकरूप शुद्धात्मा है;

उसे किसी विकल्प की अपेक्षा नहीं है।

राजकोट में श्री समयसार गाथा १२; कलश ७ पर

—[पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]—

(तारीख १५-२-६१)

शुद्धनय के बल द्वारा आत्मज्योति प्रगट होती है, अन्य किसी से नहीं—ऐसा कलश द्वारा कहते हैं:—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥७॥

शुद्धनयस्वोन्मुख एकाग्रदृष्टि के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है; वह आत्मज्योति नवतत्त्वों के अनेक विकल्परूप होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

शुद्धनय का विषय भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध है; उसके आधीन आत्मज्योति है। शुभरागरूप व्यवहार के जो विकल्प उठते हैं, उनके आधीन आत्मज्योति नहीं है। व्यवहारनय के विषय में नवतत्त्व होने पर भी, निश्चय से चैतन्यज्योति अपने एकत्व को नहीं छोड़ती। मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ; यह पुण्य-पाप हैं, आस्रव हैं;—ऐसे नवतत्त्व के विकल्प (राग) पर्याय में होते हैं; वह राग होने पर भी राग तथा गुणभेद से भिन्न अकेला ज्ञायकभाव शुद्ध है—ऐसा अनुभव अंतरोन्मुख होने पर किया जा सकता है।

अकेले नवतत्त्वों के भेद का अनुभव करे, उसके ज्ञातृत्व में ही रुका रहे, वह तो मिथ्यात्व

का अनुभव है। व्यवहार के अवलंबन द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति कदापि नहीं होती। बाह्य अहिंसा, दान, सेवा आदि शुभराग की रुचिवालों को यह बात कठिन मालूम हो ऐसी है, किंतु वस्तुस्वरूप की यथार्थदृष्टि-प्रतीति के बिना कभी संसार परिभ्रमण दूर नहीं हो सकता।

आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द से भरा है। वर्तमान ज्ञान को राग से हटाकर अंतर में अभेदस्वभावोन्मुख करे, उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। व्यवहारनय का विषय भेद और राग है, उसके आधार से तीन काल में सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

'अहिंसा परमोधर्मः' किसे कहा जाता है ?—कि पुण्य की-राग की रुचि हो, उसको तो अहिंसा नहीं होती। ज्ञानी को भी दया, दान, सेवा, भक्ति के विकल्प उठें, वह राग है; धर्म नहीं है। दूसरों पर दया करना तथा दानादि के शुभभाव पुण्यतत्त्व है और किसी को मारने या दुःखी करने के भाव, वह पापतत्त्व है—वे दोनों मलिनभाव हैं, आस्रवतत्त्व है, जो बंधन का ही कारण है। पुण्य-पाप की वृत्ति में एकत्वबुद्धि करना, सो हिंसा है, उसमें (पुण्य वा पाप में) एकाग्रता करने से अहिंसा-धर्म नहीं होता। धर्मी जीव को भूमिकानुसार शुभाशुभभाव आते हैं, किंतु उन्हें वह बंध का कारण मानता है।

मैं जीव हूँ, अजीव मुझसे भिन्न हैं;—इन सब विकल्पदशाओं से पार होकर अंतर में शुद्ध चिदानंद का स्पर्श करे, उसे लक्ष में लेकर एकाकार अनुभव करे, वह धर्म का प्रथम सोपान है।

एक समय भी यदि धर्म को समझ ले तो संसार का अंत आये बिना न रहे। पूर्ण चैतन्यप्रकाश को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्र होने से क्षणभर में संसार का नाश हो जाता है। ध्रुवस्वभाव में पुण्य-पाप का प्रवेश नहीं है। शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करे वह सम्यग्दर्शन है। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुई तभी से वह (श्रद्धा की अपेक्षा) संसार की, व्यवहार की रुचि से मुक्त है।

जिसप्रकार अग्नि को-तृषाग्नि, पत्राग्नि, काष्ठाग्नि—ऐसे अनेक प्रकार से निमित्त के कारण जाना जाता है, तथापि अग्नि तो एक ही प्रकार की है; उसीप्रकार व्यवहारनय नवतत्त्वों के भेद द्वारा आत्मा को अनेक प्रकार से बतलाता है, किंतु शुद्धनय से देखने पर आत्मा में चैतन्यज्योतिपना सदैव एकरूप है। शरीर, इन्द्रियाँ तथा पुण्य-पाप की वृत्तियों से पार आत्मा पूर्णज्ञानघनस्वरूप में सदा प्रकाशमान है, किंतु राग की क्रिया पर जिसकी दृष्टि है, उसे वह ज्ञानस्वरूप में दिखायी नहीं देता।

'तिनके की ओट में पहाड़' भी दिखायी नहीं देता। यदि आँख के सामने एक तिनके को रखकर देखे तो सामने विशाल पर्वत होने पर भी वह दिखायी नहीं देता; उसीप्रकार अकेले नवतत्तवों के विकल्प की ओट में अर्थात् व्यवहार के प्रेम में पूर्ण चैतन्यस्वभावी आत्मा भी दृष्टिगोचर नहीं होता अर्थात् प्रतीति में-अनुभव में नहीं आता। भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप चैतन्यबिम्ब है; नवतत्त्वों के विकल्प द्वारा वह अनेकरूप दिखायी देता है, किंतु रागादिरूप नहीं है-शरीररूप नहीं है तथा उनके आधीन भी नहीं है।

जिसप्रकार पानी में मिला हुआ नमक आँख या हाथ द्वारा अनुभव में नहीं आता, परंतु चखने पर तथा उबालने पर वह पानी से भिन्न और खारेपन मात्र में एकाकाररूप से अनुभव में आ सकता है; उसीप्रकार आत्मा शुद्धनय द्वारा शरीर एवं रागादि से भिन्न अनुभव में आ सकता है—ऐसी अंतर्दृष्टि होना से सम्यग्दर्शन है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥१३॥

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव तथा पुण्य-पाप और आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध मोक्ष वह सम्यक्त्व है॥१३॥

शुद्धनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष - वह सम्यक्त्व है। इन जीवादि नवतत्त्वों में से अनादि-अनंत एक ज्ञायकस्वभाव को पृथक् कर लेना, वह भूतार्थ से (निश्चय से) सम्यग्दर्शन है।

आत्मा को ही जीव कहा जाता है; ज्ञान, दर्शन, सुख और सत्ता (-अस्तित्व) रूपी भावप्राण द्वारा टिकने-स्थित रहने की अपेक्षा से उसे जीव कहा जाता है और अततीति-गच्छतीति-सदैव जानता एवं परिणमन करता है, उस अपेक्षा से उसे आत्मा कहा जाता है। आत्मा शक्ति-अपेक्षा से शुद्ध है किंतु वर्तमान दशा में विकार है। यदि वर्तमान दशा में भी वह बिल्कुल शुद्ध हो तो उसे परमानंद का प्रगट अनुभव होना चाहिये।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानानंद शांतरस से पूर्ण है; व्यवहारनय से उसे नवतत्त्वों के अनेक भेदरूप से बतलाया है; उन नव में से शुद्धनय द्वारा उसका (पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव का) अभेद—एकरूप अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रैकालिक आत्मा है, उसे जाने बिना, उसका अनुभव किये बिना शुद्धता का होना, उसमें वृद्धि होना या टिकना नहीं हो सकता।

मैं जीव हूँ, मुझसे भिन्न दूसरे अनंत जीव-अजीव हैं, वे अपने से—मुझसे नहीं हैं। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय उनसे हैं, उन पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। जड़ का, शरीर का, हाथ-पैरों का कार्य आत्मा नहीं कर सकता, क्योंकि वे अजीव-जड़ पदार्थ सत्-विद्यमान जगत के स्वतंत्र-तत्त्व हैं।

यह शरीर, वाणी, वस्त्रादि इनकी अपनी सत्ता से विद्यमान अजीवतत्त्व को सिद्ध करते हैं। उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि गुण तथा उनकी परिवर्तनशील पर्यायें उनसे हैं, वे कभी आत्माधीन नहीं हो सकती। उनकी व्यवस्था वे स्वयं करते हैं और उनके द्वारा उन्हीं के आधार से वह होती है।—ऐसा वस्तुस्वरूप न मानकर उनके कार्य मैं करता हूँ, मैं होऊँ तो उनका कार्य हो—ऐसा जो मानता है, उसको व्यवहार से भी अजीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। अज्ञानी, परपदार्थ का कर्तृत्व मानकर अभिमान करता है, किंतु पर का वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि जड़-पुद्गल परमाणु जगत में स्थायी तत्त्व है; वह उसरूप से स्थित रहकर, अपनी शक्ति से नई-नई अवस्थाओंरूप परिणमित होता रहता है।

जिसके शस्त्र द्वारा दो टुकड़े न हों, तथा ज्ञान में भी जिसके दो भागों की कल्पना न की जा सके, उसे परमाणु कहते हैं; उस प्रत्येक परमाणु में स्वतंत्ररूप से अनंतशक्ति विद्यमान है। वे स्वयं परिवर्तित होकर शरीरादिरूप होते हैं; उनका कोई कार्य आत्मा नहीं कर सकता और वे एक समय भी अपने कार्य (परिणमन) के लिये किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। इसप्रकार स्व-पर की स्वतंत्र योग्यता को स्वीकार करे तो जो ज्ञान पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-स्वामित्व एवं पर से सुखी-दुःखी होना मानकर अज्ञान द्वारा राग में रुकता था, वही ज्ञान जो पर से भिन्न अनंत गुणों का पिण्ड है तथा जिसमें अपार प्रभुता विद्यमान है, ऐसे आत्मा में लीनता करे तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो।

जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, वह जीव मानता है कि—मैं दूसरे को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, दूसरा मुझे सुखी-दुःखी कर सकता है, दूसरे को मारना-जिलाना मेरे हाथ में है या मुझे कोई दूसरा मार—जिला सकता है। वह जीव चैतन्यतत्त्व को अपनेरूप न मानकर शरीर को अचेतनरूप मानता है तथा दया, दान, पूजा, सेवा आदि राग की क्रिया को धर्म (परमार्थ धर्म) मानता है और वही मिथ्या श्रद्धा है, जो संसार का मूल है।

राग की रुचिवाला जीव, पुण्य-पाप को करने योग्य मानता है; इसलिये उसे नवतत्त्वों में से एक भी तत्त्व की सच्ची समझ नहीं है। दूसरे प्राणियों के प्रति दया-दानादि के भाव होना, सो पुण्य-तत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि भाव, वह पापतत्त्व हैं;—दोनों मलिनभाव भाव-आस्रव हैं,

उनसे नये कर्मों का आस्रव होना, सो द्रव्य (जड़) आस्रव है। पुण्यास्रव भी बंध का कारण है—ऐसा न मानकर उसे धर्म का, संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण माने, उसे नवतत्त्वों की खबर नहीं है। शुभराग से कदापि संवर नहीं होता।

अज्ञानी कुयुक्तिपूर्वत दृष्टांत देते हैं कि काँटे से काँटा निकलता है; अथवा अरंडी का तेल पीने से पेट का मल निकल जाता है और तेल भी निकल जाता है; इसलिये पहले पुण्य-शुभराग करो; शुभराग करने से पहले पाप दूर होंगे और फिर पुण्य-पाप दोनों दूर हो जायेंगे।—यह तो सत्य का घात करनेवाला दृष्टांताभास है। संसार की रुचिवाले जीवों को राग की बात ही अच्छी लगती है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व विकल्प द्वारा नवतत्त्वों का स्वरूप यथार्थतः जानना चाहिये। निर्जरा में शुद्धात्मा के आलम्बन द्वारा अंशतः शुद्धि तथा अशुद्धि की हानि होती है और मोक्ष में आत्मा के परिपूर्ण अवलम्बन द्वारा सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट होती है।—ऐसा विकल्प द्वारा निर्णय करके नवतत्त्वों को यथावत् जाने, तथापि वह सम्यग्दर्शन नहीं है।

जीव पूर्णज्ञानघन है; उसे शुद्धनय से जानना, सो सम्यग्दर्शन है। जब तक यह जीव शुद्धनय द्वारा निर्विकल्प अनुभव से आत्मा को न जाने, तब तक राग में, भेद में और पर में ममत्व करता रहता है। जीव की पर्याय जड़ से भिन्न-स्वतंत्र है और जड़ (अजीव) की पर्याय जीव से त्रिकाल भिन्न-स्वतंत्र है। अजीव से जीव की और जीव से अजीव की पर्याय नहीं होती। शुभाशुभराग जीव की पर्याय अंश है; रागरहित अंशतः शुद्धता, वह संवर-निर्जरा है और पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है—ऐसा भलीभाँति स्वीकार करे, तथापि वह राग है।

जब भेद को गौण करके भूतार्थदृष्टि से एक ध्रुवस्वभाव को जाने, तब नवतत्त्वों के ज्ञान को व्यवहारनय—(व्यवहारज्ञान) कहा जाता है। नवतत्त्वों को भेदवाली श्रद्धा, वह शुभराग है; उसका भूतार्थदृष्टि में अभाव है। शुद्धनय का विषय एकरूप शुद्धात्मा है, उसे किसी भी विकल्प की अपेक्षा नहीं है।

क्या राजा को राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् यह रटना पड़ता होगा कि मैं राजा हूँ?—उसे तो प्रत्यक्ष अनुभव है कि मैं राजा हूँ। जो धनवान हो गया, उसे ऐसा याद नहीं रखना पड़ता कि मैं धनवान हूँ। उसीप्रकार जिसकी दृष्टि त्रैकालिक ज्ञायक पर एकाग्र हुई हो, वह जीव विकल्प का कर्ता नहीं होता। ज्ञानी को नवतत्त्वों के विकल्प आते अवश्य हैं, किंतु वह व्यवहार से ज्ञान का ज्ञेय है। व्यवहार का अभेद स्वभाव में प्रवेश नहीं है।

पर का कोई कार्य इस जीव के आधीन नहीं है। शरीर की क्रिया में आत्मा का व्यवहार नहीं है। व्यवहार से भी शरीर की अवस्था जीव नहीं कर सकता; यदि कर सकता हो तो उसमें अपवाद न हो। किसी को लकवा हो, उस समय शरीर की क्रिया करने की खूब इच्छा होने पर भी वह क्रिया नहीं होती। उसका अर्थ यह हुआ कि जीव अपने में ज्ञान कर सकता है, अपनी वर्तमान पर्याय में शुद्धता अथवा अशुद्धता कर सकता है, किंतु पर का तो कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धांत में कोई अपवाद नहीं है, तथापि जिसे ऐसा भ्रम है कि मैं पर का कर सकता हूँ, उसने जीव-अजीव को स्वतंत्र नहीं माना। दोनों को भिन्न न मानकर एक मानता है, वह व्यर्थ ही कर्ताबुद्धि करके दु:खी होता है।

रागादि अशुद्धभाव जीव के अस्तित्व में—पर्याय में होते हैं; उन्हें करे तो होते हैं और न करे तो नहीं होते;—इसप्रकार प्रथम वर्तमान विकारी भावों की स्वतंत्रता स्वीकार करके, उस क्षणिक विकार से त्रैकालिक स्वभाव का पृथक् अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्वों के भेद से भिन्न आत्मा को शुद्धनय द्वारा एकरूप जानना, सो सत्यार्थ है।

राग, वह हिंसा है; रागरहित त्रैकालिक स्वभाव को श्रद्धा में लेना, सो अहिंसा है और स्वभाव में एकाग्रता के बल से विशेषत: लीन रहना, सो परम अहिंसा है। मिथ्यात्व-रागादिरहित आत्मभाव को अहिंसा कहते हैं।

पुण्य-पापभाव, वह अशुद्धदशा है; उससे चैतन्य की जागृतिरूप भावप्राण का घात होता है। जो घातक है, उससे आत्मा का हित कैसे होगा ?—नहीं हो सकता। वर्तमान दशा में पुण्य-पाप हों, तथापि उनका पहले ही दृष्टि अपेक्षा से त्याग होता है। राग से पार त्रैकालिक स्वभाव पर दृष्टि होने से जिसे शुद्धात्मा की अनुभूति—आत्मख्याति है, उसे निर्विकल्प विज्ञानघन आत्मा प्रसिद्ध हुआ और जिसकी दृष्टि पुण्य-पाप के ऊपर है, उसे मलिनभाव प्रसिद्ध हुआ—आत्मा की प्रसिद्धि उसको नहीं है।

गृहस्थदशा में भी यथार्थ अनुभवपूर्वक यह दृष्टि हो सकती है। इस सम्यग्दर्शन के बिना जो कुछ भी किया जाये, उससे पर में और राग में कर्ताबुद्धि के अहंकार का ही पोषण होता है। कदाचित् पुण्यबंध करे तो मिथ्यात्वसहित पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है।

"मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञानता;
शकट का भार ज्यों श्वान ढोये।"

जगत के जड़ और चेतन पदार्थ सदा उनकी अपनी शक्ति से स्थित रहकर परिवर्तित हो रहे हैं; उनकी व्यवस्था उनके अपने कारण से हो रही है—तेरे कारण नहीं। हमने पर के कार्य किये, समाज को सुधार दिया; हम त्यागी हुए हैं; स्त्री, धनादि परिग्रह का त्याग कर दिया है; रूखा-सूखा सादा आहार लेते हैं.... किंतु यह कहीं धर्मात्मा का चिह्न नहीं है। पुण्य-पाप तो बंध के कारण हैं; मैं उनसे भिन्न त्रैकालिक ज्ञाता हूँ;—इसप्रकार ज्ञान को स्वोन्मुख करके विकल्पों से पृथक् होकर, अनादि-अनंत एकरूप आत्मा को देखना, सो निश्चयसम्यग्दर्शन है।

प्रथम शुभराग करे, पुण्य करे तो कुछ भार कम हो जाये,—ऐसा कहनेवालों की दृष्टि विपरीत है; ऐसी दृष्टि चैतन्यसवभाव की हिंसा करनेवाली है। दया, दान, करुणा, कोमलता के भाव हों, वह पुण्यतत्त्व है, धर्मतत्त्व उससे पार है। व्यवहार में एकत्वबुद्धि छोड़कर, भेद से हटकर, अंतर में अभेदस्वभाव की ओर उन्मुख होने का नाम सम्यग्दर्शन है। 'जिसने एक को जान लिया, उसने सबको जान लिया।' व्यवहारनय है और उसका विषय भी है, परंतु उसके लक्ष से आत्मा ज्ञात नहीं होता। अंतरज्ञायक में स्थिर होकर एक आत्मा को जान लिया, उसने स्व-पर सबको ज्ञान लिया। अंतर्मुख दृष्टि किये बिना किसी को धर्म नहीं होता।

धर्मात्मा गृहस्थदशा में हों, तथापि उन्हें निश्चय-व्यवहार दोनों का ज्ञान होता है। नवतत्त्वों के विकल्प से पार निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान होता है। आगे बढ़ने पर पुरुषार्थ अनुसार अंतर में स्थिरता बढ़ती है। भूमिकानुसार पुण्य-पाप, व्रत-तप के शुभभाव भी होते हैं किंतु शुभराग को वे धर्म नहीं मानते, उसे तो पापबंध का कारण मानते हैं, छिलका की भाँति छोड़ने योग्य मानते हैं।

अज्ञानी बाह्य क्रिया देखकर उनकी नकल करते हैं, किंतु उससे वीतरागी धर्म किंचित् नहीं होता। एक सद्गृहस्थ की पत्नी धान कूट रही थी। चावल तो वजनदार होने से नीचे रहते थे और भूसा ऊपर दिखायी देता था। एक गरीब नासमझ स्त्री ने वह देखा और वह भी भूसा लाकर कूटने लगी; लेकिन उसे भूसे में से चावल कैसे प्राप्त हों ? उसीप्रकार चैतन्य आत्मा महिमावान बहुमूल्य वस्तु है; अंतर की निर्विकल्प दृष्टि द्वारा लक्ष में लेकर उसका अनुभव करे तो धर्म होता है। अज्ञानी बाह्य में, पुण्य की क्रिया में धर्म मानता है किंतु वह सच्चा धर्म नहीं है।

ज्ञानी को वीतरागी दृष्टि द्वारा चैतन्यस्वभाव का आलम्बन तो निरंतर है, किंतु चारित्र में विशेषरूप से स्थिर नहीं हो सकता; इसलिये उसे दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि का शुभराग आता है, किंतु उसे वह संवर, निर्जरारूप धर्म नहीं मानता।

नवतत्त्वों के भेद तथा गुणगुणी भेदरूप व्यवहार का पक्ष नवीन नहीं—अनादि से है। ज्ञानी ने तो प्रारम्भ से ही भेद की दृष्टि—व्यवहार की रुचि को छोड़कर एकरूप अखंडानन्द की दृष्टि की है; उस अंतर्दृष्टि के अध्यात्म-विषय को न देखकर अज्ञानी बाह्यदृष्टि से राग की क्रिया को देखता है और उसमें धर्म मानकर बाह्य आडम्बर में फँस जाता है। नवतत्त्व के भेद की दृष्टि छोड़कर (व्यवहार का आश्रय-रुचि छोड़कर) अखंड चैतन्य में दृष्टि एवं एकाग्रता करने से चारित्र प्रगट होता है। शुभराग आता है किंतु उससे आत्मा का मोक्षमार्गरूप चारित्र नहीं होता, यह तीनों काल के लिये नियम है।

बंदर में दूसरों की नकल करने की आदत होती है। एक बार जंगल में जाड़ों की रात में कुछ लोग घास में आग लगाकर ताप रहे थे। एक बंदर ने वह देखा तो उसने भी घास इकट्ठा किया, किंतु आग जलाने का साधन कहाँ? उसने एक चमकते हुए जुगनू को पकड़ा और घास में रखकर आग सुलगाने का प्रयत्न करने लगा, लेकिन उससे आग कैसे प्रगट हो? **उसीप्रकार अज्ञानी शरीर की अथवा शुभराग की क्रियाओं द्वारा कष्ट सहन करते हैं तो करें, किंतु शुभभाव से तो पुण्य बंध होगा, उससे अपूर्व यथार्थ शांतिरूप धर्म कभी भी नहीं हो सकता।**

ज्ञानी को नीचली भूमिका में नवतत्त्व के विकल्प, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति एवं तत्संबंधी राग होता है किंतु उसमें अथवा उसके आश्रय से वे धर्म नहीं मानते। राग होने पर भी उससे ज्ञान को पृथक् करके अरागी पूर्ण स्वभाव की दृष्टि करने से नवोंतत्त्वों के भेद की दृष्टि दूर हो जाती है; भेद का आश्रय छूट जाता है। श्रद्धा के विषय में—शुद्धनय के विषय में वह भेद नहीं है।

इसप्रकार भेद को गौण करनेवाले शुद्धनय द्वारा नवतत्त्वों में से एक जीवतत्त्व को पृथक् करके उसका अभेद अनुभव करना, सो आत्मख्याति—आत्मप्रसिद्धि है। जिस आत्मा ने पूर्णरूप शुद्धात्मा की अनुभूति की, उसे अंतर में भगवान के दर्शन हुए, उसे आत्म-साक्षात्कार हुआ। वर्तमान दशा में नवतत्त्वों के विकल्प एवं गुणभेद होने पर भी त्रैकालिक आत्मा का अंतर में एकरूप अनुभवन करना, सो नियम से सम्यग्दर्शन है।—यह शुद्धनय से आत्मा को शुद्ध अनुभूति का नियम कहा। उसे आत्मानुभूति कहो, शुद्धनय कहो, सम्यग्दर्शन कहो या आत्मा कहो—वह सब एक ही है।

दोष रहित सर्वज्ञदेव को पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई, वह मोक्ष है:—

मोक्ष कह्यो निज शुद्धता ते पामे ते पंथ,
समजाव्यो संक्षेप मां सकलमार्ग निर्ग्रंथ।

पूर्ण एकरूप आत्मवस्तु पर दृष्टि डाले बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; भेदरूप विषय को लक्ष में न लेकर अंतर में त्रैकालिक ज्ञायक सामान्य पर दृष्टि डालकर एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा की एक समयपर्यंत की अवस्था में विकार की योग्यता है। कोई दूसरा उसे विकार करा दे, ऐसा नहीं हो सकता और अकेले स्वविषय में स्वलक्ष से अनेक भेद पुण्य-पापादि नहीं होते।

उसमें से विकारी होने की योग्यता जीव की पर्याय में तथा विकार करनेवाला निमित्तपना जड़ कर्म में लेना चाहिये। दया-दानादि के शुभभाव, वह भावपुण्य है और उसमें निमित्तरूप अजीवकर्म, वह विकार करनेवाला द्रव्यपुण्य है। शुभराग होने में तो पुराने मोहकर्म का उदय ही निमित्त है और वह तो पापकर्म है; तथापि जीव उसके अनुसार परिणमित नहीं होता किंतु अपनी स्वतंत्र योग्यताव से ही शुभराग (भावपुण्य) करता है; इसलिये मोहकर्म के उदय को द्रव्यपुण्य का आरोप दिया गया—ऐसा इससे सिद्ध होता है। कर्म का जैसा उदय आये, तदनुसार 'डिग्री टू डिग्री' जीव में विकार होता है—यह मान्यता मिथ्या है।

जीव की पर्याय में पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—यह सात भेद पड़ते हैं, वे निमित्त के बिना—निमित्त के आश्रय बिना नहीं होते, और उन भेदों के लक्ष से अंतर में जाने की अभेददृष्टि नहीं होती। भेदरूप व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। अकेले भेद का अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। जीव की वर्तमान दशा में नव प्रकार के भेद की योग्यता की स्वतंत्रता स्वीकार न करे, तब तक उसे निर्विकल्प अभेद अनुभव तथा शुद्ध की श्रद्धासन्मुख होने की पात्रता नहीं आती।

प्रत्येक में भिन्न-भिन्न योग्यता होती है और वह स्वतंत्र होती है; जिसप्रकार दियासलाई का एक सिरा गर्म होने से दूसरा सिरा गर्म नहीं होता; किंतु लोहे के सलिये का एक सिरा गर्म होने से दूसरा सिरा भी गर्म हो जाता है। भारी वजनदार लक्कड़ पानी में तैरता है और लोहे का जरा सा टुकड़ा डूब जाता है, उसका कारण क्या?—कि उसकी अपनी स्वतंत्र योग्यता वैसी है। उसीप्रकार आत्मा में पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्षरूप अवस्था उत्पन्न होती है; वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस प्रकार की योग्यता है।

वर्तमान व्यक्तदशा की स्वतंत्रता स्वीकार करे तो फिर उस व्यक्त दशा जितना ही मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध ज्ञानघन हूँ—इसप्रकार उसका नकार करके अंतर-अनुभव की

अभेददृष्टि कर सकता है; किंतु जो वर्तमान व्यक्त विकार की स्वतंत्रता स्वीकार न करे, वह त्रैकालिक अव्यक्त अखंड निर्विकार को कैसे स्वीकार कर सकेगा ?—नहीं कर सकता।

यदि जड़कर्म के कारण वर्तमान रागादि विकार का अस्तित्व हो तो वह दूर नहीं हो सकता; और यदि जीव की वर्तमान पर्याय में अशुद्ध उपादान की योग्यता ही विकारी होने योग्य न हो तो संसार सिद्ध न हो। जीव की दशा में विकारी होने की योग्यता है और उसमें पुराने कर्म के उदय का निमित्तपना है अर्थात् उसे निमित्त बनाये तो विकार होता है; अकेले द्रव्यस्वभाव को कारण बनाये तो रागादि विकार न हो।

पुण्य-पाप के परिणामरूप होने की योग्यता जीव में है, किंतु वह जीव का स्वभाव नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव में रागादिरूप होने की योग्यता नहीं है, उसका तो उसमें त्रिकाल अभाव है। जीव की पर्याय में भूल की योग्यता है, वह कहीं जड़कर्म के कारण नहीं है। कर्म तो बेचारे जड़ हैं, उन्हें स्व-पर की खबर ही नहीं है; फिर वे तेरा क्या कर सकते हैं ?

जीव जो भाव करता है, उनका उसे कर्ता न कहकर जीव उन भावों के योग्य है तथा उसप्रकार की जीव की पर्याय की योग्यता है, ऐसा कहा है। पुण्य-पाप के भाव में अजीव कर्म का उदय निमित्तकारण है, उसे विकारक मानकर द्रव्यपुण्य, द्रव्यपाप कहा जाता है। यहाँ योग्यता अकेले जीव में बतलाना है; अजीव कर्म को कारण बनाने से रागादि होते हैं। यदि वह योग्यता जड़कर्म के कारण है—ऐसा माने तो जीव और अजीव दो द्रव्य एक हो जायें।

पानी स्वभावतः शीतलता धारण करके अपनी योग्यता से उष्ण होता है; उसमें अग्नि निमित्तकारण है; अग्नि के कारण पानी गर्म हुआ, ऐसा कहना, वह निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार का कथन है। यदि वास्तव में पानी अग्नि द्वारा उष्ण हुआ हो तो वहाँ स्थित आकाश भी उष्ण हो जाना चाहिये; किंतु ऐसा तो नहीं होता। पानी में उष्ण पर्याय की योग्यता प्रगट होने का काल हो, तब अग्नि निमित्त होती है। उसका ज्ञान कराने के लिये अग्नि को निमित्तकारण कहा जाता है। उसीप्रकार जब जीव, विकारभावरूप परिणमित हो और कर्मों के उदय में युक्त हो, तब कर्म को निमित्तकारण कहा जाता है। उसमें युक्त न हो और ज्ञानानंदस्वरूप में सावधान रहे तो कर्म को अभावरूप निमित्त कहा जाता है।

जीव की वर्तमान अशुद्धदशा, वह पुण्य-पाप होने योग्य है; उसमें शुभराग को भावपुण्य कहा है; उसमें मोहकर्म निमित्तमात्र है। यद्यपि वह पापकर्म है, तथापि उसी निमित्त को द्रव्यपुण्य-

विकारक कहा है। दोनों की स्वतंत्रता को स्वीकार करके निमित्त-नैमित्तिक संबंध में सात प्रकार से जीव की योग्यता और उसमें सद्भावरूप अथवा अभावरूप पुराने कर्मों को निमित्त कहा जाता है।—इसप्रकार व्यवहारनय के विषय में पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—यह सात भेद कैसे हुए वह जानना चाहिये; किंतु उन समस्त भेदों को गौण करनेवाला अंतर में मैं ध्रुव एकरूप चैतन्य ज्ञायकवस्तु हूँ—भूतार्थ हूँ—ऐसा निर्णय करके अभेद चैतन्य को विषय बनाकर, उसकी निर्विकल्प श्रद्धा करे, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव आदरणीय है

समस्त बंधभाव निषेधयोग्य हैं

[समयसार गाथा १५९-१६० के प्रवचनों से]

ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का सम्यक्त्व तथा ज्ञान का चारित्र, वह तो स्वभावरूप अर्थात् मोक्ष के कारणरूप है; किंतु शुभ या अशुभ परभावरूप कषाय द्वारा वह ढँक जाता है। जो मोक्ष के कारण को ढँके, वह भाव मोक्षमार्ग में कैसे आदरणीय होगा ?—नहीं हो सकता; इसलिये शुभ या अशुभकर्म का निषेध किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कि जो मोक्ष का कारण है, वह तो ज्ञान का ही परिणमन है, वह कहीं राग का परिणमन नहीं है। सम्यग्दर्शनादि की ऐक्यता ज्ञानस्वभाव के साथ है; राग के साथ उसकी ऐक्यता नहीं है। राग चाहे शुभ हो या अशुभ, किंतु वह मोक्षमार्ग में बाधक है। स्वतत्त्व उसे कहते हैं जो स्वभाव के साथ सदैव एकाकार हो। अपना सत्त्व (सत्पना-अस्तित्व) किसप्रकार है, वह जाने बिना मोक्षमार्ग की साधना नहीं हो सकती। जिसे स्वतत्त्व की खबर न हो, वह श्रद्धा किसकी करेगा ? ज्ञान किसका करेगा ? और कहाँ स्थिर होगा ? जो राग को मोक्ष का कारण मानता है, वह तो राग को ही स्वतत्त्व मानकर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसी

में लीनता करता है अर्थात् मिथ्यात्वादिरूप संसारमार्ग का ही वह सेवन करता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, वह तो आत्मा के ही आश्रित है, उसमें राग का किंचित् आश्रय नहीं है। रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग राग से अत्यंत निरक्षेप है। जिसप्रकार परद्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है, उसीप्रकार राग के आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं है।

अहा, ऐसा सरल मार्ग!! अंतर में किंचित् विचार करे तो समझ में आ जाये कि मार्ग तो ऐसा ही होता है। जिसप्रकार मैले रंग से रंगे जाने पर वस्त्र का श्वेत स्वभाव ढँक जाता है, उसीप्रकार राग की रुचि, वह मिथ्यात्वरूपी मैल है, उसके द्वारा सम्यक्त्व का घात होता है। सम्यक्त्व है तो जीव का स्वभाव, किंतु परभाव की रुचि द्वारा वह ढँक जाता है अर्थात् मिथ्यात्व होता है। चिदानंदस्वभाव की रुचि करके; उपयोग को अंतरोन्मुख करके उसमें स्थिर हो तो मोक्ष का मार्ग खुल जाता है, किंतु राग के आश्रय से लाभ मानने पर मोक्षमार्ग ढँक जाता है। इसप्रकार पुण्य-पाप दोनों भाव मोक्षमार्ग से विरुद्ध होने के कारण उसका निषेध किया गया है।

जिसे मोक्ष करना हो, उसे समस्त कर्मबंध छोड़ने योग्य है; किंतु अशुभ छोड़ने तथा शुभ रखने योग्य है—ऐसे भेद को उसमें अवकाश नहीं है। जो किंचित् भी बंधभाव को रखने योग्य मानता है, उस जीव को वास्तव में मोक्ष का अर्थी कैसे कहा जा सकता है? मोक्ष का अर्थी बंध की इच्छा क्यों करेगा? भाई, एक बार तू अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर देख तो सही, कि क्या उसमें राग की उत्पत्ति होती है? ज्ञान के आश्रय से कभी राग की उत्पत्ति नहीं होती और राग की सन्मुखता से कभी सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति नहीं होती।—इसप्रकार ज्ञान को और राग को भिन्न स्वभावपना है। ज्ञान के परिणमन में राग का निषेध है—अभाव है; ज्ञान के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि का परिणमन हुआ, उसमें भी राग का अभाव ही है। जिसे राग का अभाव भासित न हो और किंचित् भी राग का आश्रय भासित हो, उसे सम्यक्त्वादि का परिणमन हुआ ही नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो, अब गाथा १६० में आचार्यदेव आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव बतलाकर समझाते हैं कि भाई, तेरा आत्मा तो सर्वज्ञता की सामर्थ्यवाला है, किंतु तेरे अपने ही अपराध से तेरा वह स्वभाव ढँक गया है—

सो सव्वणाण दरिसी कम्मरएण णियेणविच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं॥१६०॥

यह सर्वज्ञ ज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से॥१६०॥

आत्मा अर्थात् ज्ञान का पिण्ड। जिसप्रकार मिसरी यानी मिठास का पिण्ड; अफीम यानी कड़वाहट का पिण्ड; अग्नि अर्थात् उष्णता का पिण्ड; उसीप्रकार आत्मा यानी ज्ञान का पिण्ड। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह परिपूर्ण जानने की शक्तिवाला है, क्योंकि स्वभाव स्वयं से अपूर्ण नहीं होता।—इसप्रकार भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसा होने पर भी आत्मा अनादि काल से स्वयं को क्यों नहीं जानता?—तो कहते हैं कि अनादि काल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से वह भावमल-कर्ममल द्वारा लिप्त है, इसलिये वह अपने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं जानता। सर्वज्ञस्वभाव का आश्रय न करके, पुरुषार्थ के अपराध के कारण बंधभाव का आश्रय करता है। इसलिये अपने अबंध स्वभाव को (-सर्वज्ञस्वभाव को, मुक्तस्वभाव को) वह नहीं जानता। निगोद में भी अपने प्रचुर भाव कलंक के कारण ही जीव भटका है। **निगोद से लेकर नववें ग्रैवेयक तक अज्ञानभाव से जहाँ-जहाँ भटका, वहाँ अपने पुरुषार्थ के अपराध से ही जीव भटका है। जिससे परिभ्रमण हो, वह भाव आदरणीय कैसे हो सकता है? इसलिये शुभ या अशुभ कोई कर्म आदरणीय नहीं है। अहो! आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव तो मुक्तस्वरूप है और पुण्य-पाप के भाव तो बंधस्वरूप हैं, इसलिये ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके वे बंधस्वरूप भाव निषेध करने योग्य हैं।**

चैतन्यस्वभावी आत्मा तो अबंधस्वरूप है, वह स्वयं कर्मबंध का कारण नहीं है; वह स्वयं तो सर्वज्ञस्वभावी है, सर्व को जाने ऐसा उसका स्वभाव है; किंतु बंधभावों में अटकने के कारण वह सर्वज्ञस्वभाव को नहीं जानता और संसार में भटकता है; वह उसका अपना ही अपराध है। शुभाशुभ रागादिभावों में हित मानकर जो अटका, वह बंधन में ही अटका है; वह मोक्षमार्ग में नहीं आया।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी होने पर भी संसार में क्यों भटकता है?—कि बंधभाव में अटका है इसलिये। शुभराग में अटका, वह भी बंधभाव में ही अटका है। शुभराग द्वारा किंचित् अबंधपना प्रगट हो, ऐसा नहीं होता; शुभभाव स्वयं बंधस्वभाव ही है; और जो स्वयं बंधस्वरूप हो, वह मोक्ष का साधन कैसे होगा?

जानना ही जिसका स्वरूप है, उसमें बीच में राग कहाँ आया? राग से—शुभराग से—किंचित् लाभ होता है, ऐसा माननेवाला वास्तव में अपने आत्मा को रागस्वरूप ही मानता है,

किंतु ज्ञानस्वरूप निजात्मा को वह नहीं जानता। अहो! ज्ञान में और राग में अत्यंत भिन्नता है; खम्भे को जाननेवाला ज्ञान जिसप्रकार खम्भे से पृथक् है, उसीप्रकार राग को जाननेवाला ज्ञान, राग से भी पृथक् ही है।—ऐसे भिन्न ज्ञानस्वभाव को अज्ञानी जीव भेदज्ञान नहीं जानता।

—एक ओर सम्पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव;—दूसरी ओर अशुभ और शुभबंधभाव;

—इसप्रकार दो पक्ष हैं। उनमें से सर्वज्ञस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसकी रुचि-प्रतीति करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव, बंधभावों की रुचि में नहीं रुकता; और जो मिथ्यादृष्टि जीव, बंधभावों की रुचि में रुकता है, वह सर्वज्ञस्वभाव की रुचि-प्रतीति नहीं कर सकता। सर्वज्ञस्वभाव का अनादर करके बंध का आदर किया, उसका फल संसार है, और राग निषेध करके सर्वज्ञस्वभाव का आदर, वह मोक्ष का कारण है। सर्वज्ञस्वभाव के अवलंबन द्वारा बंधन टूट जाता है।

कर्मोदय के कारण जीव बँधता है?—तो कहते हैं कि नहीं; अपने सर्वज्ञस्वभाव को न जाननेवाला जीव अपने पुरुषार्थ के अपराध से ही बँधता है। अज्ञानी जीव, रागभाव में तन्मय वर्तता हुआ सर्वज्ञस्वभावी ऐसे स्वयं को नहीं जानता। देखो, अपने आत्मा को किस रूप में जाने तो यथार्थ जाना कहलाता है—वह भी इसमें बतलाया है। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा सर्व प्रकार से सम्पूर्ण है; ऐसे आत्मा को जाने, तभी सम्यग्ज्ञान हुआ कहा जाता है। आत्मा को राग के कर्तृत्ववाला या बंधनवाला जाने तो उसमें वास्तविक आत्मा का ज्ञान नहीं होता। अन्य प्रकार से कहें तो आत्मा को अबंधस्वभावी जाने और बंधभाव को भिन्न जाने..... इसप्रकार जानकर ज्ञान, बंध से पृथक् होकर अबंधभावरूप परिणमित हो, तभी सम्यग्ज्ञान है और उस सम्यग्ज्ञान के परिणमन में सर्व बंधभावों का अभाव ही है। देखो, यह मोक्षमार्ग में गमन करता हुआ ज्ञान! जिससे मोक्षमार्ग में गमन हो, वही जीव को प्रयोजनभूत है और उसी का जैनधर्म में उपदेश है। राग द्वारा कभी मोक्षमार्ग में गमन नहीं होता; राग तो मोक्षमार्ग को रोकनेवाला है।

- **भाई, तेरा आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है—यह बात तुझे जमती है?**
- **यदि सर्वज्ञस्वभाव जम गया तो राग की रुचि को किंचित् अवकाश नहीं रहता; क्योंकि सर्वज्ञस्वभाव में राग का अंश भी नहीं है।**
- **जिस रुचि में राग का अंश भी प्रिय है, वह रुचि सर्वज्ञस्वभाव की रुचि होने नहीं देती, इसलिये राग की रुचिरूप जो मिथ्यात्व है, वही सर्वज्ञस्वभाव की रुचिरूप सम्यक्त्व में बाधक है।**
- **राग की रुचिवाला जीव, रागरूपी तिनके की ओट में विशाल चैतन्य पहाड़ को नहीं देखता।**

- **जहाँ दृष्टि खुली कि मैं कौन हूँ ?—मैं तो सर्वज्ञस्वभावी; मेरे स्वभाव में राग के एक कण को भी स्थान नहीं है; वहाँ ज्ञान का परिणमन ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ। देखो, ऐसी अंतर्मुख प्रतीति हुई, वहाँ श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ। अहा, जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अपनी आत्मा का केवलज्ञान प्रतीति में आ गया; उसकी रुचि की दिशा, राग से विमुख होकर केवलज्ञान की ओर उन्मुख हो गई; वह केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये चल पड़ा; और जो चिदानंदस्वभाव का अनादर अर्थात् राग का आदर करता है, वह बंधपरिणामी जीव घोर दु:खमय संसार में परिभ्रमण करता है। अरे, ज्ञान का प्रेम छोड़कर जिसने राग का प्रेम किया, उसने मोक्ष का मार्ग छोड़कर संसार का मार्ग पकड़ा है।**
- **आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! यदि तुझे मोक्ष का उत्साह हो, मोक्ष को साधने की लगन हो तो समस्त बंधभावों की रुचि छोड़ और ज्ञान की रुचि कर। मोक्षमार्ग में समस्त बंधभावों का निषेध करके ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन कराया गया है।**

★ ★ ★ ★ ★

अनेकांतस्वरूप जिननीति

अनेकांतस्वरूप जिननीति भगवान आत्मा को यथार्थरूप में प्रसिद्ध करती है; वह 'अनेकांत' अरिहंत भगवान का अलंघ्य (किसी से लाँघा न जा सके ऐसा) शासन है। एकांत मान्यताओं को तोड़ता हुआ और अनेकांतस्वयप से भगवान आत्मा को प्रकाशित करता हुआ वह अनेकांत शासन जयवंत प्रवर्तमान है।

अनेकांतमय वस्तुव्यवस्था को ज्ञानी पुरुष अनेकांत-संगतदृष्टि द्वारा स्वयमेव देखते हैं और इसप्रकार अनेकांतमय जिननीति का उल्लंघन न करते हुए वे संत स्वयमेव ज्ञान-आनन्दस्वरूप होते हैं।

ज्ञान-आनन्दस्वरूप होना, वह अनेकांत का फल है और वही जिननीति है, वही जिनेश्वरदेव का मार्ग है। इससे विरुद्ध (एकांत) वस्तुस्वरूप मानना, वह जिननीति नहीं है, किंतु महान अनीति है। जिननीति का उल्लंघन करनेवाला मिथ्यादृष्टि होता है और घोर संसार में परिभ्रमण करता है... संत अनेकांतस्वरूप पावन जिननीति का कभी उल्लंघन नहीं करते, इसलिये वे परम अमृतमय मोक्ष पद प्राप्त करते हैं।—अनेकांतमय जिननीति जयवंत हो!

राष्ट्रीय शाला में
पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

[तारीख १७-२-६१ के दिन राजकोट में पूज्य गुरुदेव जब 'अंध महिला विकास-गृह' का अवलोकन करने के लिये पधारे तब श्री नारायणदास गाँधी तथा श्री पुरुषोत्तमदास गाँधी ने नम्र निवेदन पर यह प्रवचन किया था।]

(१) इस देह में विद्यमान आत्मा देह से भिन्न अविनाशी वस्तु है;—उसमें पूर्व भवों के संस्कार होते हैं, और इस भव के पहले यह जीव कहाँ था उसका भान हो सकता है, छोटे बालकों को तथा अंध बहिनों को भी आत्मा का नि:संदेह ज्ञान हो सकता है।

(२) मोरबी के पास ववाणिया गाँव में श्रीमद् राजचंद्र हो गये हैं, उनको सात वर्ष की उम्र में जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। एकबार पड़ोस में वृद्ध पुरुष की मृत्यु हुई, उनको अर्थी में बाँध ले जाते हुए देखकर, यह क्या ?—उसे जानने की जिज्ञासा हुई। जब लोग श्मशान में उसके शरीर का अग्नि संस्कार करते थे, उस समय वहाँ से दूर आये हुए एक बबूल के वृक्ष पर चढ़कर वह दृश्य देखते-देखते श्री राजचंद्र को ऐसा विचार आया कि—इस शरीर में से ऐसा कौन सा तत्त्व चला गया कि जिससे ये लोग उसे जला देते हैं। ऐसे विचार के परिणामस्वरूप विक्रम संवत् १९३१ में सात वर्ष की उम्र में उनको जातिस्मरणज्ञान हुआ। अर्थात् यह आत्मा (जीव) इस देह से पहले कहाँ था, उसका स्मरण हो गया। विचारधारा की निर्मलता से पूर्व भव में मैं कहा था, यह जान लेने की शक्ति प्रत्येक जीव में है।

(३) १६ वर्ष की उम्र के पहले वे लिखते हैं कि—'रात्रि व्यतीत हुई, प्रभात हुआ, निद्रा से जागृत हुये, अब भावनिद्रा टालने का प्रयत्न करना।' अपने असली स्वरूप को भूलकर पर को अपना मानने रूप जो अज्ञानरूपी भावनिद्रा है उसे सम्यग्ज्ञान द्वारा दूर किया जा सकता है। यह आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है, देह में रहते हुए भी देह से भिन्न अतीन्द्रिय ज्ञानमय-आनन्दमय है। उसे भूलकर देह में आत्मबुद्धि करने से दु:खी होता है।

(४) श्री राजचंद्रजी ने १६ वर्ष की उम्र में 'मोक्षमाला' नाम की पुस्तक लिखी है; उसमें 'अमूल्य तत्त्वविचार' नाम का एक पाठ है, जिसमें लिखते हैं कि:—

बहु पुण्य केरा पुंज थी शुभदेह मानवनो मल्यो,
ते ये अरे भवचक्रनो आंटो नहीं एके टल्यो।

आँखें न मिलीं तो क्या हुआ ? मनुष्य अवतार तो मिला है न ! वह अति पुण्य से मिला है। शरीर में आँखें ठीक न होने पर भी मनुष्य प्राणी पाँचों इन्द्रियों का विकास लेकर आया है। चक्षु संबंधी विकास होते हुये भी उसका उपयोग नहीं है। आत्मा के सच्चे नेत्र तो अंतर के ज्ञान-दर्शन हैं। यदि चैतन्य नेत्र खोलकर यह आत्मा अपनी अनंत चैतन्यमय शक्ति का अवलोकन करे, नित्य चिदानंदस्वरूप ही मैं हूँ, उसमें एकताबुद्धि करे तो इस स्थिति में भी आत्मज्ञान हो और भव-भव का अंधापन तथा भावनिद्रा दूर हो। चैतन्य नेत्र में अंधापन नहीं है।

(५) पूर्व के बहुत पुण्य से अब मनुष्य भव पाया किंतु आत्मज्ञान द्वारा भवचक्र का फेरा न टाले तो मनुष्यपना किस काम का ? 'भवचक्र' शब्द में भवरहित होने की बात बताई है। जैसे गोल चक्र घूमने के नाचवाले को स्थिर होना हो तो उससे विपरीत दिशा में घुमाव का चक्कर मारे तो स्थिर हो सकता है, उसीप्रकार यह जीव विपरीतदृष्टि के कारण अनादि से भ्रमण कर रहा है। बाह्य में अनुकूलता-प्रतिकूलता मानकर, दु:खी होता है। लेकिन पराश्रय से विमुख होने के लिये अंतर में दृष्टि डाले व विचार करे कि मैं तो नित्य ज्ञातास्वरूप हूँ। दु:ख मेरा स्वरूप नहीं है; शरीर, वाणी, संयोग मुझमें नहीं, मैं उनके आधार से नहीं हूँ। प्रत्येक आत्मा में सदैव अनंत ज्ञानादि-शक्तियाँ हैं। प्रत्येक आत्मा में शक्तिरूप परमात्मपना है। जैसे कच्चे चने में मिठास भरी पड़ी है, सेकने से वह प्रगट होती है, उसीप्रकार आत्मा में आनन्द भरा है, वह सम्यग्ज्ञान द्वारा स्वाद में आता है, उसकी खबर न होने से राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकार में सुख मानकर बैठा है।

(६) नेत्रहीन मनुष्य को देखकर लोग कहते हैं कि अरे रे ! बेचारा अंधा है ! किंतु अंतर में शाश्वत चैतन्यतत्त्व को भूल रहा है, वह अनादि की भावांधता है। वह अज्ञान में अंध होकर भव-भव में भटक रहा है, उसका दु:ख नहीं होता कि अरे ! यह अज्ञानता का अंधापन कैसे टले ?

(७) मैं कौन हूँ तथा मेरा आत्मा क्या वस्तु है, उसका सत्समागम से भान करके, अंतर में सम्यग्ज्ञान चक्षु खोले तो भव-भव का अंधापन दूर हो जाये।

(८) गाँधीजी जब बिलायत से आये, तब श्रीमद् राजचंद्रजी के परिचय से उनके ज्ञान के विकास की असाधारण शक्ति देखकर प्रभावित हुये थे।

(९) मैं कौन हूँ ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? इसका प्रथम विचार करना चाहिये। बाहर

सुख मानकर 'हुं कोण छुं, क्यांथी थयो, शुं स्वरूप छे मारूँ, खरूँ कोना संबंधे वलगणा छे राखुं के अे परिहरूँ ?'

सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो ?

देह मंदिर में आत्मा शाश्वत ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति करके, मैं अविनाशी ज्ञान हूँ—ऐसा अनुभव करने से भवचक्र के फेरे मिट जाते हैं।

(१०) यह शरीर तो हड्डियाँ हैं, मिट्टी है। आत्मा सच्चिदानंदमय है। उसको भूलकर पर के कारण सुख मानता है किंतु पराश्रय से सुख प्राप्त करने के उपाय सब मिथ्या हैं, इससे तो सुख-शांति स्वाधीनता टलती है। पैर का एक अवयव टूट जाये तो हायतोबा मचाता है, तो फिर सारा शरीर छोड़ते समय कितना दु:खी होगा ? संसार के मान-अपमान से माने हुये दु:ख से छूटने के लिये शरीर को जलाकर खाक कर देता है। देखो, इसमें से यह सिद्धांत निकलता है कि यह शरीर न हो तो भी अकेला उससे पृथक् रहकर भी सुखी हो सकता है। ऐसा सुख-स्वभाव अपने में है, ऐसा सिद्ध होता है।

(११) देह छोड़कर सुखी होऊँ—इसका अर्थ यह हुआ कि देह में सुख या आनन्द नहीं है, किंतु आत्मा में ही स्वाधीन सुख और आनन्द है और वह अन्तर में सम्यग्ज्ञान नेत्र द्वारा दिखता है, अनुभव में आता है। इस अंतर के उपाय से भव का अंत आ जाता है और आत्मा अकेला जड़ शरीर से रहित, ज्ञानानन्द शरीरी स्वयं सुखरूप होकर सदा मुक्त रहता है।

(१२) बाल-युवा-वृद्धावस्थाएँ शरीर की हैं, आत्मा की नहीं; अंतर में स्वयं चैतन्यमूर्ति है, उसको ज्ञान चक्षु से देखे तो स्वयं ज्ञान है। उसकी प्रतीतिपूर्वक बारम्बार उसका अनुभव करना ही शांति प्रगट करने का उपाय है; शांति बाहर से नहीं मिलती।

(१३) हिंसा या अहिंसा बाह्य में नहीं है। पुण्य-पाप की वृत्ति दु:खदाता है, वह चैतन्य की जागृति की घातक होने से हिंसा है, इसलिये विकार की रुचि छोड़कर, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप की रुचि करे, उसका आश्रय करे, तो स्वाश्रय स्थिरता के बल से क्रमश: विकार नष्ट होकर आनन्द प्रगट हो; पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, सो मुक्तदशा है। आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-लीनता द्वारा एकाग्र होना उसका उपाय है। वीतरागी दृष्टि तथा चारित्र, वह अहिंसा है, वह आत्मा की शुद्ध परिणति है।

(१४) जिसप्रकार नारियल में ऊपर के छिलके, अन्दर की कवची व ऊपर के लाल भाग

से भी गरी का सफेद गोला अलग है, उसीप्रकार आत्मा शरीर, जड़कर्म व पुण्य-पाप की वृत्तियों से भिन्न ज्ञानानन्द मूर्ति है—वही मैं हूँ, इसका निर्विकल्प अनुभव, सो प्रथम सम्यग्दर्शनरूपी उपाय है। इसके बिना त्यागी बने, साधु होकर जंगल में रहे, या अन्य उपाय करे, तथापि आत्मा में अंशमात्र भी सच्चा धर्म नहीं होता। आत्मा का यथार्थ मूल्यांकन न करे तो सब व्यर्थ है। पुण्य करने से देवादि गति प्राप्त होगी, किंतु जन्म-मरण का अंत नहीं आयेगा।

(१५) अहो! आत्मा की शक्ति अपार अचिंत्य है। प्रत्येक आत्मा में परमेश्वर बनने की योग्यता है। श्री राजचंद्रजी ने एक बार दुकान पर बैठे-बैठे बही खाते में लिखा कि—'मैं सच्चिदानंद परमात्मा हूँ।' देखो, ऐसी अचिंत्य शक्ति प्रत्येक आत्मा में है, उसकी प्रतीति से भावांधता दूर हो जाती है। अनंत सुखस्वरूपी आत्मा अकेला रहे, यह मुक्ति का उपाय है। मुक्ति में शरीर ही नहीं, फिर आँख की तो बात ही कहाँ रही? ऐसा अकेला अशरीरी सिद्ध परमात्मपद प्रगट होने का नाम मुक्ति है; वहाँ शरीर, इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर भी परिपूर्ण ज्ञान व सुख आत्मा में सदैव वर्तता है, इसकी प्रथम श्रद्धा-प्रतीति की जा सकती है।

(१६) प्रत्येक आत्मा में प्रति समय इतनी शुद्धता-पवित्रता भरी है कि उसकी प्रतीति करना चाहे तो प्रत्यक्ष स्वयं जानकर अनुभव कर सकता है, किंतु इस रीति से कभी प्रयत्न किया नहीं। बाह्य में सेवा, दानादि करे तो पुण्य होता है, किंतु जन्म-मरण का अंत नहीं आता।

(१७) 'निर्ग्रंथ का पंथ भव अंत का उपाय है।' अन्दर मोह-राग-द्वेष की गाँठ रहित शुद्धचिद्रूप हूँ। उसकी पहिचान करके अंतर में रमणता-लीनता करे तो उसमें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उस उपाय से आत्मा निर्मलदशा अपने में से प्रगट कर सकता है। बाह्य-अंध दशा में भी आत्मा में उसकी दृष्टि तथा उसके अभ्यास से निर्मलता प्रगट कर सकता है।

(१८) नरक क्षेत्र नीचे है; तीव्र पाप के फल में वहाँ करोड़ों वर्ष की आयु बाँधकर उत्पन्न होते हैं। वहाँ विरोधीजन शरीर के खंड-खंड कर डालते हैं, उसे जलाते हैं, और क्षणभर में फिर सम्पूर्ण शरीर हो जाता है। जैसे पारा बिखरकर फिर इकट्ठा हो जाता है, उसीप्रकार नरक में असंख्य बार शरीर बिखरकर फिर अखंड हो जाता है। ऐसी घोर प्रतिकूलता का संयोग होने पर भी वहाँ वह नारकी जीव पूर्व का जातिस्मरणज्ञान कर सकता है, सत्य स्वरूप के उपदेश का स्मरण करके, अपनी आत्मा को संयोग से, शरीर से व राग से भिन्न ज्ञानानन्दरूप अनुभव कर सकता है। ऐसा सम्यग्दर्शन नारकी को भी हो सकता है। वहाँ अति दीर्घकाल की प्रतिकूलता भी बाधक नहीं होती,

तो यहाँ कितनी प्रतिकूलता है ? नरक में हजारों-लाखों वर्षों तक ऐसी प्रतिकूलता होने पर भी पूर्व भव में सत्संग से आत्मा की सच्ची बात धारणा में रही हो, उसका स्मरण करके रुचि करता है। वहाँ विचारता है कि—अरे, आत्मा देह से तथा राग से भिन्न नित्य ज्ञान-आनन्दमय है, उसके अवलम्बन से ही कल्याण है। ऐसी बात पूर्व में संतों के पास सुनी किंतु उस समय रुचि नहीं की, दरकार नहीं की, उससे ऐसा अवतार मिला—ऐसा स्मरण करते अंतर में भेदविज्ञानरूपी ज्ञानचक्षु द्वारा भिन्न आत्मा की—चिदानंदस्वरूप की प्रतीति करता है—इसप्रकार वहाँ भी उसके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और परमात्मा जिसप्रकार के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं, उसी जाति का अंशतः आनन्द नरक में भी वे प्राप्त करते हैं।

मोक्षगामी
वज्रनाभि चक्रवर्ती

(आदिपुराण के ऊपर से)

भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान के पूर्व भव की यह कथा है।

उन्होंने तीर्थंकर होने के पहिले तीसरे भव में सम्यग्दर्शनसहित मुनिदशा में षोडशकारण-भावनाओं का चिंतवन किया था। इन भावनाओं का उत्तम रीति से चिंतवन करने से उन श्रेष्ठ मुनिराज ने तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर नाम की महापुण्य प्रकृति का बंध किया था।

विशुद्ध भावनाओं को धारण करनेवाले वज्रनाभि मुनिराज जिस समय अपने विशुद्ध परिणामों के बल से उत्तरोत्तर विशुद्ध हो रहे थे। उस समय वे उपशमश्रेणी में आरूढ़ हुए व अनुक्रम से उपशांत मोह (११ वाँ गुणस्थान) गुणस्थान में पहुँचे। सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के उपशांतपूर्वक

उन्होंने अतिशय विशुद्ध औपशमिकचारित्र प्राप्त किया। तदनंतर अंतर्मुहूर्त के बाद वे पुनः भी स्वस्थान अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त स्थिर होकर उत्कृष्ट तप को जानते थे, उत्कृष्ट पूजा को जानते थे व उत्कृष्ट पद को (सिद्धपद को) जानते थे।

इसके बाद आयु के अंत समय में वे बुद्धिशाली मुनिराज श्री वज्रनाभि इन्होंने श्रीप्रभ नाम के पर्वत पर प्रायोपगमन नाम का संन्यास धारण करके शरीर व आहार का ममत्व छोड़ दिया। इसप्रकार प्रयोपगमन संन्यास धारण करके वज्रनाभि मुनिराज अपने शरीर का न तो स्वयं उपचार करते थे और न दूसरे किसी से उपचार कराने की इच्छा रखते थे। वे शरीर से ममत्व छोड़कर इसप्रकार निराकुल हो गये थे कि जिसप्रकार कोई शत्रु के मृतक शरीर छोड़कर निराकुल हो जाता है। उस समय इनके शरीर में चमड़ी व हड्डियाँ ही शेष रह गईं थीं, उनका पेट भी अत्यंत कृश हो गया था, तथावि वे अपने स्वाभाविक धैर्य के बल से बहुत दिन तक निश्चल चित्त से अपने मार्ग में स्थित रहे। मुनिमार्ग से च्युत न हो, तथा कर्मों की अतिशय निर्जरा होने की इच्छा करते हुये वज्रनाभि मुनिराज ने क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्न, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृशस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल तथा सत्कार, पुरस्कार ये बाईस परीषह सहन की थी।

बुद्धिमान, मदरहित व विद्वानों में श्रेष्ठ वज्रनाभि मुनिराज ने उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य ये दस धर्म धारण किये थे।

वास्तव में ऊपर कहे हुए दस धर्म, गणधरों को अत्यंत इष्ट हैं। इसके अतिरिक्त वे नित्य बारह भावनाओं का चिंतवन करते थे। जैसे कि संसार के मोहजन्य सुख, आयुष्य, बल व संपदा सर्व अनित्य है, तथा मृत्यु, वृद्धावस्था व जन्म का भय उत्पन्न हो, उस समय मनुष्यों को इस संसार में कोई भी शरण नहीं है। यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भावरूप विचित्र पंचपरिवर्तनों के कारण अत्यंत दुःखरूप है। ज्ञानदर्शनस्वरूपी आत्मा सदा अकेला रहता है। शरीर, धन, भाई व स्त्री आदि से यह आत्मा सदा भिन्न रहता है। इस शरीर के नव द्वारों से नित्य मल झरते रहते हैं, इसलिये यह (शरीर) अपवित्र है। इस जीव को पुण्य-पापरूपी कर्मों का आस्रव होता रहता है। आत्मा परिणामों की शुद्धि अनुसार गुप्ति, समिति आदि कारणों से इन कर्मों का संवर होता है। सम्यक् तप से निर्जरा होती है।

यह लोक चौदह राजू प्रमाण ऊँचा है (असंख्य योजन का एक राजु) संसाररूपी सागर में

रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है व जिसमें मिथ्यात्व, रागादि की उत्पत्ति नहीं, ऐसे दयारूपी धर्म से ही जीवों का कल्याण हो सकता है। इसप्रकार तत्त्वों का चिंतवन करते हुए उन्होंने बारह भावनाओं का स्मरण किया। इस समय शुभभावों में स्थित वे मुनिराज लेश्याओं की अत्यंत विशुद्धि को धारण कर रहे थे।

वे दूसरी बार उपशमश्रेणी में आरूढ़ हुए व पृथक्त्ववितर्क नाम के शुक्लध्यान को पूर्ण करके उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त किया।

अंत में उपशांतमोह नाम के ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण त्यागकर सर्वार्थसिद्धि में गये तथा वहाँ पर अहमिंद्र पद को प्राप्त किया। यह सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान लोक के अंत के भाग से बारह योजन नीचे है, सबसे श्रेष्ठ है व सबसे उत्कृष्ट है। इसकी लंबाई, चौड़ाई (४५ लाख योजन है) जम्बूद्वीप के बराबर है। यह स्वर्ग के त्रेस्ठ पटलों के अंत में चूड़ामणि के समान स्थित है। इस विमान में उत्पन्न होनेवाले जीवों के सर्व मनोरथ सहज ही सिद्ध हो जाते हैं, इससे वह विमान सर्वार्थसिद्धि, इस सार्थक नाम को धारण करता है। यह विमान बहुत ही ऊँचा है तथा फहराती ध्वजाओं से शोभायमान है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि सुख देने की इच्छा से मुनियों को बुला रहा है। जिसके ऊपर अनेक फूल बिछाये हुए हों, ऐसी वहाँ की नीलमणि से बनी हुई देखकर के देवों को ताराओं से व्याप्त आकाश का स्मरण हो जाता है। देवों के प्रतिबिम्ब को धारण करनेवाली वहाँ की रत्नमय दीवालें ऐसी मालूम पड़ती हैं कि जैसे किसी नये स्वर्ग की सृष्टि ही करना इच्छती हो। वहाँ रत्नों की किरणों ने अंधकार को दूर कर दिया है। वह ठीक ही है, वास्तव में निर्मल पदार्थ मलिन पदार्थ के साथ संगति नहीं करता। इसप्रकार अकृत्रिम और श्रेष्ठ रचनाओं से सुशोभित उस विमान में उपपाद शय्या के ऊपर उस देव को क्षण भर में पूर्ण शरीर की प्राप्ति हो गयी। दोष, धातु व मल से रहित, सुन्दर लक्षणों से युक्त उनका शरीर क्षणभर में युवा अवस्था को प्राप्त हो गया था। जिसकी शोभा कभी नष्ट नहीं होती। जो स्वभाव से ही सुंदर है व जो आंखों को आनन्द देनेवाला है ऐसा उनका शरीर सुशोभित था, मानों अमृत से ही बनाया हो। इस संसार में जो अच्छे, सुगन्धित व स्निग्ध परमाणु थे, पुण्योदय से इन परमाणुओं से इनके शरीर की रचना हुई थी। पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद उपपाद शय्या के ऊपर अपने शरीर की कांतिरूपी चाँदनी से घेरे हुए वे अहमिन्द्र ऐसे सुशोभित थे कि मानों गंगा नदी की रेत की टेकड़ी पर अकेला बैठा हुआ युवा अवस्था को प्राप्त हुआ हंस शोभायमान हो रहा हो। जन्म होने के बाद वे अहमिन्द्र के सिंहासन पर विराजमान हुए थे। इस

समय वे ऐसे शोभायमान होते थे कि जिसप्रकार अति उत्तम निषध पर्वत के ऊपर मध्य में आश्रय को प्राप्त हुआ सूर्य, शोभायमान होता है। वे अहमिन्द्र अपने पुण्यरूपी जल द्वारा मात्र सिंचे हुए ही नहीं थे किंतु शारीरिक गुणों के समान अनेक शोभाओं द्वारा शोभित भी हुए थे ×××अणिमा, महिमा आदि गुणों से प्रशंसनीय वैक्रियिकशरीर को धारण करनेवाले वे अहमिन्द्र जिनेन्द्र-देव की अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा करते हुए अपने क्षेत्र में विहार करते थे। उसीप्रकार इच्छा मात्र से मिले हुए मनोहर गंध, अक्षत आदि द्वारा पुण्यबंध करनेवाली श्री जिनेन्द्र देव की पूजा विधिपूर्वक करते थे। वे अहमिन्द्र पुण्यात्मा जीवों में सबसे श्रेष्ठ थे, इससे वे सर्वार्थसिद्धि विमान में रहकर समस्त लोक में विद्यमान जिन प्रतिमाओं की पूजा करते थे। वे (अहमिन्द्र) अपने वचनों से जिन प्रतिमाओं का स्तवन करते थे। अपना मन इनके गुणों के चिंतवन में लगाया था, व अपना शरीर इनको नमस्कार करने में लगाया था। धर्म चर्चा में बिना बुलाये आनेवाले अपने समान ऋद्धियों को धारण करनेवाले तथा शुभभावनाओं से युक्त दूसरे अहमिन्द्रों के साथ वार्तालाप करने की इनकी बड़ी रुचि थी। अतिशय शोभा के धारक वे अहमिन्द्र कभी तो अपने मंद हास्य के किरणरूपी जल के पूर से दिशारूपी दिवालों को धोते हुए अहमिन्द्रों के साथ तत्त्वचर्चा करते थे।

अहमिन्द्र परक्षेत्र में विहार नहीं करते कारण कि शुक्ललेश्या के प्रभाव से अपने भोगों द्वारा संतोष को प्राप्त होनेवाले अहमिन्द्रों को अपने उपद्रव रहित सुखमय स्थान में जैसी उत्तम प्रीति होती है, उसप्रकार उनको दूसरी किसी भी जगह नहीं होती।

मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे अलावा दूसरा कोई इन्द्र नहीं है। इससे वे उत्तम देव अहमिन्द्र नाम से प्रसिद्ध हैं, तेतीस सागर की आयुवाले, एक हाथ ऊँचे, हंस के समान श्वेत शरीर को धारण करनेवाले वे अहमिन्द्र ६३ हजार वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करके शांति रखते थे। अब तक जितना वर्णन किया है, उससे भी अधिक सुंदर व अतिशय चमकवाला इनका शरीर इसप्रकार शोभायमान होता था कि मानों एक जगह इकट्ठा किया हुआ सौंदर्य का सार ही हो।

वज्रनाभि के विजय, वैजयंत, अपराजित, बाहु, सुबाहु, पीठ व महापीठ नाम के आठों भाई तथा बुद्धिमान धनदेव ये नौ जीव भी अपने पुण्य के प्रभाव से इसी सर्वार्थसिद्धि में वज्रनाभि के समान अहमिन्द्र हुए।

इसप्रकार, इस सर्वार्थसिद्धि में वे अहमिन्द्र, मोक्ष के समान सुख का अनुभव करते हुए

प्रवीचार बिना (मैथुन बिना) लम्बे समय तक सुखी रहते थे। इन अहमिन्द्रों को शुभकर्म के उदय से जो सुखाभासरूप, बाधारहित सुख प्राप्त होात है, वह प्रवीचार सहित सुख से अनंत गुणा अधिक होता है।

संसार में मोहीजन स्त्री समागम से ही जीव को सुख की प्राप्ति मानते हैं, तो इन अहमिन्द्रों को स्त्री समागम न होने से सुख किसप्रकार हो सकता है ? यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो उसका समाधान यह है कि इस संसार में जिनेन्द्रदेव ने आकुलता रहित परिणाम को ही सुख कहा है। इसलिये वह सुख इन सरागी जीवों को किसप्रकार हो, कि जिनके चित्त अनेक प्रकार की आकुलताओं से व्याकुल हो रहे हैं। *(क्रमशः)*

भव्य जीवों के कल्याण के हेतु से उपकारी श्री गुरुओ ने कैसा उपदेश दिया ?

[समस्त जिनशासन का सार]

उपकारी श्रीगुरुओं ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है... वीतरागी संतों की पुकार है कि शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से तीनकाल-तीनलोक में मोक्ष नहीं हो सकता।

भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है; इसलिये भूतार्थस्वभाव को बतलानेवाला शुद्धनय आश्रय करनेयोग्य है;—ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है; व्यवहार-आश्रय करने योग्य नहीं है। अभेद आत्मवस्तु में गुणगुणी के भेद करके कथन करना, वह व्यवहार है। ज्ञान और ज्ञानी के भेद कथन करनेवाला जो व्यवहार है, उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है; इसप्रकार

व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है; परन्तु वह व्यवहार स्वयं अनुसरण करने योग्य नहीं है; परमार्थ स्वभाव ही आश्रय करने योग्य है।

व्यवहार, वह परमार्थ का प्रतिपादक है; लेकिन किसे ? जो जीव व्यवहार का लक्ष छोड़कर परमार्थ स्वभाव को लक्ष में ले ले उसे; जो जीव परमार्थस्वभाव को लक्ष में न ले और व्यवहार का ही आस्रव करके अटक जाये, वह तो व्यवहार मूढ़ अज्ञानी है; उसे समझाने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! व्यवहारनय स्वयं तो अभूतार्थ है; इसलिये वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है। व्यवहार से भेद करके कथन किया, वहाँ भी हमारा आशय तो परमार्थ को ही बतलाने का था; इसलिये तू व्यवहार का आश्रय छोड़ और अभेदरूप परमार्थ वस्तु को लक्ष में ले।

अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि व्यवहार भी परमार्थ का ही प्रतिपादक है; 'ज्ञान, वह आत्मा'—इसप्रकार भेद करके कहनेवाला व्यवहार भी 'परमार्थरूप आत्मा' ही बतलाता है; 'ज्ञान, वह आत्मा'—ऐसा कहनेवाला व्यवहार कहीं राग को या पर को नहीं बतलाता; इसलिये तू भेद के सन्मुख देखते हुए न रुककर अभेद वस्तु को पकड़ लेना। व्यवहार से भेद करके कथन किया, उस समय कहनेवाले का आशय अभेद का प्रतिपादन करने का है और सामनेवाला श्रोता भी उस आशय को पकड़कर परमार्थ समझ जाता है; इसलिये वहाँ 'व्यवहार ने भी परमार्थ का ही प्रतिपादन किया'—ऐसा कहा जाता है। देखो, इसमें से तो ऐसा तात्पर्य निकलता है कि—कथन भले ही निश्चय से हो अथवा व्यवहार से हो, परन्तु परमार्थस्वरूप समझकर उसी का आश्रय करने योग्य है; व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है। जो जीव व्यवहार के आश्रय से लाभ होना माने, उसे तो निश्चय-व्यवहार का कुछ भी भान नहीं; उसे आचार्यदेव 'अनादिरूढ़ व्यवहारमूढ़' कहते हैं।

कोई ऐसा पूछे कि यदि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है तो उस व्यवहार का आश्रय क्यों न किया जाये ? आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि अरे भाई! 'व्यवहारनय परमार्थ का ही प्रतिपादक है'—ऐसा कहकर हमने तो तुझसे परमार्थ का लक्ष करने को कहा था; उसके बदले यदि तू व्यवहार के आश्रय से लाभ मानकर उसी को चिपटा रहेगा तो तुझसे कहते हैं कि वह व्यवहार तो अभूतार्थ है, उसके आश्रय से लाभ नहीं है, इसलिये उसका आश्रय छोड़ और शुद्धनय द्वारा परमार्थ स्वभाव का अवलम्बन कर। जो शुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं; जो शुद्धनय का आश्रय नहीं करते और व्यवहार का आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं है। धर्मी जीव शुद्धनय के

अवलम्बन से सहज एक ज्ञायकस्वभावरूप से अपने को अनुभव में लेते हैं। ऐसे शुद्धनय का आश्रय जीव ने अनादि संसार में एक क्षण नहीं किया है। यदि एक बार ऐसे शुद्धनय का आश्रय करके आत्मा का अनुभव करे तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाए। इसप्रकार उपकारी श्रीगुरुओं ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है। शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है, तबतक शुद्ध आत्मा के ज्ञान-श्रद्धारूप निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता और संसारपरिभ्रमण दूर नहीं होता। शुद्धनय का ग्रहण करना ही सर्व शास्त्रों का निचोड़ है और वही मोक्ष का उपाय है। नाटक समयसार में कहा है कि—

यह निचोर या ग्रन्थ को, यहै परम रस पोष।
तजै शुद्धनय बंध है, गहै शुद्धनय मोख॥

—शुद्धनय को छोड़ने से बंधन होता और शुद्धनय के ग्रहण से मोक्ष होता है;—ऐसा इस शास्त्र का निचोड़ है और यह बात परम तत्त्वरस की पुष्टि करनेवाली है।

देखो, यह मोक्ष का मार्ग! अज्ञानी 'व्यवहार.. व्यवहार' करते हैं और व्यवहार के आश्रय से मोक्ष होना मनाते हैं; उनके सामने यहाँ वीतरागी संतों की पुकार है कि शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से तीनकाल तीनलोक में मोक्ष नहीं होता। अरे मूढ़! तू व्यवाहर के आश्रय से लाभ होना मानता है, परन्तु व्यवहार का आश्रय तो तू अनादि से कर ही रहा है, तथापि कल्याण क्यों नहीं हुआ? इसलिये समझ कि व्यवहार के आश्रय से कल्याण नहीं होता। भूतार्थस्वभव के आश्रय से ही कल्याण होता है; परन्तु उसका आश्रय तो तूने कभी किया ही नहीं।

शुद्धनय के आश्रय के अतिरिक्त जो व्यवाहर के आश्रय से लाभ होना मनाते हों; मिथ्यादृष्टि के दयादान के शुभ परिणामों से परितसंसार होना मनाते हों, वे उपदेशक मिथ्यादृष्टि हैं तथा उनके माननेवाले जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं। शुद्धस्वभाव के आश्रय बिना भवकट्टी हो ही नहीं सकती। जिस शास्त्र में मिथ्यादृष्टि को भी दया-दानादि के भावों से पारित-संसार होना कहा हो, उसमें 'शुद्ध स्वभाव के आश्रय से लाभ होता है'—ऐसी बात यथार्थ हो ही नहीं सकती। राग के आश्रय से भी लाभ माने और शुद्धात्मा के आश्रय से भी लाभ माने—इन दो बातों का मेल नहीं बैठ सकता; क्योंकि यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं; जो शुद्धात्मा के आश्रय से लाभ होना माने, वह राग से

लाभ होना मान ही नहीं सकता; और जो राग से लाभ मानता है, वह 'शुद्ध आत्मा के आश्रय से लाभ होता है'—ऐसा यथार्थरूप से नहीं मान सकता। जिसमें मिथ्यादृष्टि को दया-दान के राग से भवकट्टी होना कहा हो, वैसे शास्त्र को जो जीव शास्त्ररूप से मानता हो, तथा वैसा कथन करनेवाले को गुरुरूप से मानता हो—वह जीव शुद्धात्मा के आश्रय से लाभ होने की बात करता हो तो वह बात उसके घर की नहीं है, परन्तु कहीं से चुराई हुई है। जो मिथ्यादृष्टि के राग से भव का नाश होना कहे, उसके घर 'शुद्धात्मा के आश्रय से लाभ होता है'—इस बात की गंध भी कैसे हो सकती है ?

अज्ञानी जीव परमार्थरूप अभेद स्वभाव को नहीं जानते हैं, इसलिये उन्हें अभेद समझाने के लिये, व्यवहार से भेद करके कथन किया जाता है; परन्तु वहाँ भेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु अभेद बतलाने का प्रयोजन है। परमार्थस्वभाव समझाते हुए समझानेवाले आचार्य को तथा समझनेवाले शिष्य को बीच में गुणगुणी भेद के विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, परन्तु वहाँ उनका आशय तो परमार्थस्वभाव कहने का और समझने का है। वाणी में भेद आता हो, तथापि श्री आचार्यदेव का आशय अभेद कहने का ही है, और शिष्य को भेद का विकल्प होने पर भी उसकी उन्मुखता अभेद को पकड़ने की ओर है और वह भेद का लक्ष छोड़कर अभेद स्वभाव को लक्ष में ले लेता है, इसलिये उसे तो व्यवहारनय से भी परमार्थ ही बतलाया; इसप्रकार व्यवहार परमार्थ का ही प्रतिपादक है। अभेद स्वभाव के अवलम्बन से अनुभव करने से भेद का विकल्प टूट जाता है; इसलिये भेदरूप व्यवहारनय अभूतार्थ है; वह अवलम्बन करनेयोग्य नहीं है।

व्यवहारनय को परमार्थ का प्रतिपादक कहा, वहाँ कोई जीव परमार्थ को तो लक्ष में न ले और अकेले व्यवहार को ही पकड़कर रुक जाये तो उसे व्यवाहर का अवलम्बन छुड़ाकर भूतार्थस्वभाव की दृष्टि करने के लिये आचार्यदेव ग्यारहवीं गाथा में समझाते हैं। अरे भाई! हमने व्यवहार को परमार्थ का ही प्रतिपादक कहा, वह तो तुझे व्यवहार का लक्ष छुड़ाकर परमार्थ के लक्ष में पहुँचाने के लिये कहा था; परन्तु यदि तू उस व्यवाहर का ही अवलम्बन करके रुक जायेगा तो परमार्थस्वरूप आत्मा तेरी समझ में नहीं आयेगा, क्योंकि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है, उसके अवलम्बन से शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं होता; इसलिये वह अवलम्बन करनेयोग्य नहीं है। भूतार्थस्वभाव को बतलानेवाला शुद्धनय (निश्चयनय) ही अवलम्बन करनेयोग्य है।—ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

जिसप्रकार अंगुली चन्द्र को बतलानेवाली है, परन्तु अंगुली स्वयं चन्द्र नहीं है; उसीप्रकार

व्यवहार परमार्थ को बतलानेवाला है, परन्तु वह स्वयं परमार्थ नहीं है, इसलिये अंगीकार तो परमार्थ को ही करना, व्यवहार को मोक्षमार्ग समझकर अंगीकार मत करना। जिसप्रकार अंगुली के सन्मुख देखता रहे तो चन्द्र दिखलाई नहीं देता; परन्तु यदि अंगुली का लक्ष छोड़कर सीधा चन्द्रमा पर लक्ष करे तो अंगुली ने चन्द्र को बतलाया—ऐसा कहा जाता है; उसीप्रकार अभेद आत्मस्वरूप समझाने के लिये व्यवहार से भेद करके कहा हो, वहाँ उस भेद के ही सामने देखता रहे तो आत्म का परमार्थस्वरूप समझ में नहीं आ सकता; परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का लक्ष छोड़कर यदि सीधा अभेदस्वभाव को लक्ष में ले ले तो वहाँ व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा जाता है। परन्तु जो जीव, व्यवहार के ही आश्रय में रुक जाये और व्यवहार का लक्ष छोड़कर परमार्थ को लक्ष में न ले तो उसके लिये 'व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है'—यह बात लागू नहीं होती।

देखो, शास्त्रों में स्त्री के शरीर का सर्वांग वर्णन किया हो, परन्तु वहाँ संतों का आशय तो वैराग्य कराने का है, इसलिये वह विकथा नहीं है किन्तु वीतरागी कथा है। वह वर्णन सुनकर यदि कोई अशुभराग करे तो उसके लिये वह विकथा है; और यदि वैराग्यपरिणाम करे तो वह वीतरागी कथा है।—इसप्रकार विकथा या वीतरागी कथा जीव के भावानुसार कहलाती है, उसीप्रकार व्यवहार से भेद करके समझाने से जिस जीव ने परमार्थ को लक्ष में ले लिया है, उस जीव के लिये 'व्यवहार ने भी परमार्थ का ही प्रतिपादन किया'—ऐसा कहा जाता है।

इसप्रकार दूसरा दृष्टान्त सप्तभंगी का लो। छद्मस्थ की वाणी में एक साथ सात भंगों का कथन नहीं आता; परन्तु जिस वाक्य द्वारा समझनेवाला प्रमाण सप्तभंगी को समझ जाये, वहाँ उस वाक्य को प्रमाण सप्तभंगी का वाक्य कहा जाता है; और समझनेवाला नय सप्तभंगी को समझे तो उसी वाक्य को नयप्ररूपणा कहा जाता है। सप्तभंगी का परिपूर्ण कथन तो एक वाक्य में नहीं आता, परन्तु समझनेवाला उसीप्रकार का आशय समझ जाता है; इसलिये वहाँ वाणी ने भी उसका प्रतिपादन किया—ऐसा कहा जाता है; इसप्रकार आत्मा का परमार्थस्वरूप समझाने के लिये कोई भी वचन बोलने से उसमें भेदरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता; इस अपेक्षा से परमार्थस्वभाव को कथंचित् वचन अगोचर कहा जाता है; परन्तु सामनेवाला समझनेवाला—जीव कथन करनेवाले के आशय को पकड़कर अभेद स्वभाव को समझ जाता है। इसलिये वहाँ उस वाणी ने भी परमार्थ का प्रतिपादन किया, ऐसा कहा जाता है; सामनेवाला जीव आशय समझ जाता है, उस अपेक्षा से परमार्थ कथंचित् वक्तव्य भी है।

किसी भी प्रकार के व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ आत्मा का अनुभव नहीं होता; इसलिये समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ है। यहाँ व्यवहारनय को 'समस्त' विशेषण दिया है; इसलिये उससे विरुद्ध ऐसा परमार्थ निश्चय 'एक ही प्रकार का' है—यह बात उसमें आ जाती है और वह एकरूप निश्चयस्वभाव ही भूतार्थ होने से उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये संतों ने जीवों के कल्याण हेतु से पुनः पुनः इसी के आश्रय का उपदेश दिया है।

शास्त्र में ऐसा कथन आये कि 'शुद्धनय का आश्रय करना चाहिये'—अब, शुद्धनय तो एक पर्याय है; तो क्या पर्याय का आश्रय करने को कहा है ? नहीं; पर्याय का आश्रय करने को नहीं कहा, परन्तु शुद्धनय के विषयभूत जो अखण्ड द्रव्य है, उसका आश्रय करने को कहा है; वह कथन तो नय और नय के विषय को अभेद करके कहा है। शुद्धनय कब होता है ?—जब अखण्ड द्रव्य की ओर देखे तब; इसलिये शुद्धनय का आश्रय करने को कहने से भी अखण्डद्रव्य की ओर देखना ही आया।

अध्यात्म में अनेकबार नय और नय के विषय का अभेदरूप से वर्णन किया जाता है। यहाँ ११वीं गाथा में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा और शुद्धनय को भूतार्थ कहा; वहाँ शुद्धनय तो यद्यपि श्रुतज्ञान की पर्याय है और पर्याय तो अभूतार्थ है; परन्तु यहाँ वह पर्याय, द्रव्य में अभेद हुई है; इसलिये सम्पूर्ण को (द्रव्य-पर्याय की अभेदता हुई उसे) भूतार्थ कह दिया है। अनुभव के समय शुद्धनय की पर्याय पृथक् नहीं रहती परन्तु द्रव्य में अभेद हो जाती है; यदि भूतार्थस्वभाव में अभेद न हो तो वह शुद्धनय ही नहीं है। शुद्धनय स्वयं श्रुतज्ञान की पर्याय होने पर भी उसका विषय भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा है; वह भूतार्थस्वभाव में लक्ष करके अभेद होता है; इसलिये शुद्धनय को भी भूतार्थ कहा जाता है। शुद्ध आत्मा विषय और ज्ञान उसका ज्ञाता—ऐसे दो भेदों का लक्ष शुद्धनय की अनुभूति के समय नहीं होता।

देखो भाई! यह बात सूक्ष्म है परन्तु समझनेयोग्य है; इसे समझने से अपूर्व कल्याण होता है; ऐसे आत्मा को पहिचानकर अंतर में उसका अनुभव करना, वह जैनधर्म का सार है। समस्त जिनशासन का सार क्या ?—शुद्ध आत्मा की अनुभूति! आगे पंद्रहवीं गाथा में आचार्यदेव कहेंगे कि जो इस शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है। अहो! वहाँ तो आचार्यदेव ने अलौकिक बात कही है; समस्त जैन-शासन का रहस्य बतला दिया है।

[श्री समयसार गाथा ८ से ११ के प्रवचनों से]

धर्मी का धर्म

जितनी शुद्धात्मपरिणति है, उतना ही धर्म है; जो शुभोपयोग है, वह भले ही धर्मी का हो तथापि धर्म नहीं है।

साधक जीव की परिणति में शुद्धतारूप धर्म और शुभोपयोग—दोनों एक साथ रह सकते हैं; वे दोनों साथ-साथ होने पर भी उसमें जो शुद्धता है, वही धर्म है, जो शुभोपयोग है, वह कहीं धर्म नहीं है; उस शुभ के कारण धर्म या साधकदशा स्थिर हो, ऐसा नहीं है। छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि को शुभयुक्त कहा, इसलिये कहीं उस शुभराग के कारण मुनिदशा स्थिर हो, ऐसा नहीं है; वहाँ भी जो शुद्धपरिणति है, उसी के कारण मुनिदशा टिकी हुई है। जिसे शुद्धपरिणतिरहित मात्र शुभोपयोग हो, उसके मुनिदशा या धर्म नहीं होता। धर्मरूप से परिणमित मुनियों को (अथवा अन्य सम्यग्दृष्टि जीवों को) शुभोपयोग होता है—ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह शुभ उपयोग स्वयं धर्म है। हाँ, इतना अवश्य है कि साधक को एक ही पर्याय में धर्म और शुभोपयोग दोनों एक साथ रह सकने में विरोध नहीं है। वे दोनों एक साथ रह सकते हैं—इसमें विरोध नहीं है, तथापि जो शुभराग है, वह शुद्धता का विरोधी ही है; क्योंकि शुद्धता तो संवर-निर्जरा का कारण है और शुभराग तो आस्रव का कारण है। शुद्धोपयोगदशा तो निरास्रव, शांत, अकषायरूप है और शुभोपयोग तो आस्रव तथा कषाय-क्लेशयुक्त है। शुभोपयोगी छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि भी रत्नत्रय सहित होने से श्रमण तो हैं ही, किन्तु वे मुख्य नहीं है; मुख्य तो शुद्धापयोगी श्रमण ही हैं, वे साक्षात् धर्मरूप परिणमित हैं; शुभोपयोगी श्रमण उनके पीछे हैं—गौण हैं; वे शुद्धापयोग के किनारे बैठे हैं। सातवें गुणस्थानवर्ती श्रमण तो साक्षात् शुद्धोपयोग में लीन हैं और छट्ठे गुणस्थानवर्ती श्रमणों को अभी शुभवृत्ति होने पर भी वे शुद्धपरिणतिरूप धर्म सहित होने के कारण क्षण में विकल्प तोड़कर शुद्धोपयोग प्रगट करेंगे। इसप्रकार शुद्धपरिणतिसहित होने से वे भी श्रमण हैं—मोक्षमार्गी हैं।

इसप्रकार शुद्धात्मपरिणति ही धर्म है; उसके साथ धर्मी को जो शुभ उपयोग हो, वह कहीं धर्म नहीं है।

(श्री 'प्रवचनसार' गाथा २४५ के प्रवचन से)

★

सुवर्णपुरी समाचार

परम उपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति से विराजमान हैं। प्रवचन में सबेरे प्रवचनसारजी शास्त्र गाथा १ से ५ तथा दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र गाथा ४७-४८ चालू है।

पूज्य स्वामीजी का विहार फागण सुदी में सौराष्ट्र में होना संभव है, यह विहार दो या तीन मास के लिये होगा, कार्यक्रम अब बाद में निश्चित होगा।

स्व० पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, कविवर पंडित बनारसीदासजी कृत परमार्थ वचनिका तथा उपादान निमित्त चिट्ठी पर पूज्य गुरुदेव द्वारा अति सूक्ष्म और प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान को स्पष्ट करनेवाले प्रवचन हुये थे।

पूज्य स्वामीजी की बाँये चक्षु पर निडलिंग कराने की आवश्यकता है या नहीं, उसका निर्णय करने के लिये बम्बई से डा० चिटनीस तारीख ३-२-६३ को आये थे, उन्होंने सूक्ष्मता से जाँच करके प्रसिद्ध किया कि निडलिंग करने की आवश्यकता नहीं है, इस समाचार से सभी मुमुक्षुओं को अत्यंत आनन्द हुआ।

अज्ञान का ज्ञानरूप में परिवर्तन

आत्मा अज्ञानदशा में स्वरूप को भूलकर राग-द्वेष में वर्त रहा था; परद्रव्य की क्रिया का कर्ता हो रहा था; मैं पर की क्रिया का कर्ता हूँ और पर मेरी क्रिया कर सकता है; मैं क्रिया के फल का उपभोक्ता हूँ—ऐसा मानता था; परंतु अब ज्ञानदशा में तो 'वे भाव कुछ हैं ही नहीं—ऐसा अनुभव में आता।' इस आशय का काव्य श्री अमृतचंद्राचार्य देव कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेष परिग्रहे सति यतो जातं क्रिया कारकैः।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्नाक्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल॥२७७॥

अर्थ—जिससे (अज्ञान से) प्रथम अपना और पर का द्वैत हुआ (अर्थात् अपनी और पर की एकमेकतारूप भाव हुआ); द्वैतपना होने के कारण जिससे स्वरूप में अंतर पड़ा (अर्थात् बंधपर्याय का ही अपनेरूप से अनुभव हुआ); स्वरूप में अंतर पड़ने के कारण जिससे राग-द्वेष का ग्रहण हुआ; राग-द्वेष का ग्रहण होने के कारण जिससे क्रिया के कारक उत्पन्न हुए (अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्म आदि कारकों का भेद हुआ); कारक उत्पन्न होने के कारण जिससे अनुभूति क्रिया के (राग की क्रिया के, कर्म चेतना के) समस्त फल को भोगती हुई खिन्न हुई (खेद को प्राप्त हुई); वह अज्ञान अब (—स्वोन्मुख होने पर) विज्ञानघन के ओघ में मग्न हुआ (अर्थात् ज्ञानरूप परिणमित हुआ) इसलिये अब वह सब वास्तव में कुछ भी नहीं है।

नया प्रकाशन

समयसार प्रवचन भाग ४

कर्ता-कर्म अधिकार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा विस्तार से प्रवचन (गाथा ६९ से १४४) अंधकार हटाना नहीं पड़ता, प्रकाश होते ही अंधेरा उत्पन्न नहीं होता; इसप्रकार निर्मल तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके भेदविज्ञान ज्योति अपनी आत्मा में प्रगट करने से अनादिकालीन महान भूल मिट जाती है। श्री समयसारजी शास्त्र में अत्यन्त अप्रतिबुद्ध अपूर्व तत्त्वज्ञान समझाया है।

कर्ता-कर्म के संबंध में जीव की भूल होने से मिथ्या अभिप्रायवश अज्ञानी जीव दु:खी हो रहा है, वह भूल कैसे मिटे, स्वानुभव कैसे हो, यह बात स्पष्ट करके समझाई है।

पृष्ठ संख्या ५६४, कपड़े की जिल्द, मूल्य (लागत से भी बहुत कम है) ४-०, पोस्टेज १-६० अलग।

अनुभवप्रकाश

लेखक, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी कासलीवाल जो २०० वर्ष पूर्व हो गये। इस ग्रंथ में आत्मानुभव को सुगम-रीति से समझाया गया है। पृष्ठ १२६, मूल्य ०-३५ पोस्टेज अलग।

शासन प्रभाव

जिसमें पूज्य कानजी स्वामी का जीवन चरित्र भी है। मूल्य ०.१२।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)
नियमसार	५ ॥)
समयसार, पृष्ठ ६१६ बड़ा साइज	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)
समयसार प्रवचन भाग ४	४ ॥)
प्रवचनसार	५)
अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)
द्वितीय भाग	२)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)
द्वितीय भाग	॥–)
तृतीय भाग	॥–)
जैन बालपोथी	।)
छहढाला मूल	१५ नये पैसे
दसलक्षण व्रत विधानपूजा	०–७५
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
छहढाला (नई टीका)	८७ नये पैसे
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह सजिल्द	१ ।=)
अपूर्व अवसर प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानु.	८५ नये पैसे
भेदविज्ञानसार	२)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
स्तोत्रत्रयी	॥)
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
आत्मधर्म फाइल वर्ष १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।